स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्माको आनन्द प्रदायक। सब धर्मोंका श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर। भक्ति अधोक्षजकी अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यर्थ सभी केवल बंधनकर ॥

वर्ष १९ } गौराब्द ४८७, मास–दामोदर ५, वार–अनिरुद्ध, बुधवार, ३० आश्विन, सम्वत् २०३०, १७ अक्टूबर, १९७३ { संख्या ५

अक्टूबर १९७३

श्रीब्रह्माकृतं श्रीश्रीभगवन्महिमा–स्तोत्रम्

(श्रीमद्भागवत २।६।३१-३२, ३४-४२, ४६)

श्रीब्रह्मोवाच–

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम् ।
गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः ॥१॥

ब्रह्माजीने कहा—भगवान् नारायणमें ही यह विश्व अधिष्ठित है। भगवान् आप स्वयं अगुण (प्राकृत गुणरहित) होकर भी सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्मा-रुद्रादि देवताओंमें मायाके द्वारा महान् गुण सभी ग्रहण कराते हैं ॥१॥

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः ।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक् ॥२॥

भगवान् श्रीहरिके द्वारा नियुक्त होकर मैं जगत्की रचना करता हूँ, उनकी वश्यता स्वीकार कर शिव इस विश्वका संहार करते हैं। त्रिगुणमाया शक्तिधारी (अथवा अन्तरंगा-बहिरंगा-तटस्था शक्तिधारी) वे ही श्रीहरि परमात्मारूपसे जगत्का पालन करते हैं ॥२॥

न भारती मेऽंग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः ।
न मे हृषीकानि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः ॥ ॥

हे नारद ! मैंने समुत्कण्ठित सेवोन्मुख चित्तसे भगवान् श्रीहरिको हृदयमें धारण किया था। इसलिए उन्हींके प्रभावसे मेरे वाक्य, मन एवं इन्द्रियवृत्तियाँ आदि दोषशून्य हुए हैं। मेरे वाक्य मिथ्या साबित नहीं होते, मेरे मनकी गति कहीं भी मिथ्या नहीं होती, मेरी इन्द्रियाँ भी असत् मार्गकी ओर नहीं दौड़तीं ॥३॥

सोऽहं समाम्नायमयस्तपोमयः प्रजापतिनामभिवन्दितः पतिः ।
आस्थाय योगं निपुणं समाहितस्तन्नाध्यगच्छं सत आत्मसंभवः ॥४॥

(इस प्रकार समुत्कण्ठित चित्तमें हरिको ध्यान करनेवाले) मेरे मुखसे पहले वेद निकलने पर भी एवं मैं प्रजापतियोंद्वारा पूजित प्रभु एवं तपोमय होनेपर भी एवं एकाग्रचित्तसे निपुणयोगका भली प्रकारसे आश्रय करने पर भी, जब जिन भगवान्से जन्म ग्रहण करनेवाला मैं उनको जान नहीं पाया, तब मेरे द्वारा रचित दूसरे-दूसरे प्राणी किस प्रकार उन परम पुरुषको जाननेमें समर्थ हो सकते हैं ? ॥४॥

नतोऽस्म्यहं तच्चरणं रुमीयुषां भवच्छिदं स्वस्त्ययनं सुमङ्गलम् ।
यो ह्यात्ममायाविभवञ्च पर्यगाद् यथा नभः स्वान्तमथापरे कुतः? ॥५॥

शरणागत भक्तोंके सांसारिक दुःखोंके छेदन करनेवाले, अपना प्रेमसुख प्रदान करने वाले, उत्तम मंगलकारी भगवानके चरणोंमें मैं प्रणत होता हूँ। आकाश जिस प्रकार स्वयं ही स्वयं अपना अन्त नहीं पाता, उसी प्रकार वे परम पुरुष भी अपनी योगमाया विस्तारकी सीमा कर नहीं पाते। इसलिए दूसरे व्यक्ति किस तरह उनके मायाविस्तारका परिमाण जाननेमें समर्थ हो सकते हैं ? ॥५॥

नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदुर्न वामदेवः किमुतापरे सुराः ।
तन्मायया मोहितबुद्धयस्त्विदं विनिर्मितं चात्समं विचक्ष्महे ॥६॥

मैं, तुम, रुद्र जिस पुरुषकी एकपाद विभूति भी जान नहीं सकते, दूसरे देवता लोग उन्हें किस प्रकार जान सकते हैं ? उनकी मायाके द्वारा विमोहित बुद्धि होकर उनकी माया द्वारा बनाये गये इस विश्वको अपने अपने क्षुद्र ज्ञानके अनुसार वर्णन किया करते हैं ॥६॥

यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मादादयः ।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः ॥७॥

हम जैसे सभी व्यक्ति ही उनके अवतार एवं कार्यसमूहका गान किया करते हैं। किन्तु कोई भी उनको यथार्थ शक्ति-स्वरूप तत्त्वके साथ जान नहीं पाते। मैं उन भगवान्‌के स्वरूप के सम्बन्धमें क्या कहूँ ? मैं उस भगवानको केवलमात्र प्रणाम करता हूँ ॥७॥

स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः ।
आत्मात्मन्यात्मनात्मानं स संयच्छति पाति च ॥८॥

वे आदि पुरुषावतार भगवान् प्रत्येक कल्पके आरम्भमें स्वयं ही अपनेमें अपनेके द्वारा अपना सृजन, पालन एवं संहार करते हैं ॥८॥

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम् ।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥९॥

भगवानका निर्विशेषस्वरूप उपाधिशून्य होनेके कारण विशुद्ध है, कर्त्तृ-कर्म-करण के अभावके कारण केवलज्ञान स्वरूप है, सबके भीतर विराजमान होनेके कारण प्रत्यक् है, ओतःप्रोत रूपसे चारों ओर अवस्थित होनेके कारण सम्यगवस्थित है, व्याप्तिरूपी होकर सर्वत्र सत्तारूपसे स्थित होनेके कारण सत्य है, तारतम्य रहित होनेके कारण पूर्ण है, जन्मादि विकारशून्य होनेके कारण अनादि एवं अनन्त है, सत्त्वादि गुणोंके संसर्गरहित होनेके कारण निर्गुण है, सब समय एक ही रूपसे स्थित होनेके कारण नित्य है, उसमें द्वितीय वस्तुका अभाव होनेके कारण अद्वय है ॥९॥

ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः ।
यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुतम् ॥१०॥

हे ऋषे नारद ! जिनके देह, इन्द्रिय, मन आदि प्रशान्त हैं, ऐसे मुनि लोग ही उन्हें तत्त्वतः जान सकते हैं। ऐसे भगवत्-तत्त्व ही कुतर्क करने पर तिरोहित या अन्तर्द्धान होते हैं ॥१०॥

आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च ।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः ॥११॥

प्रकृतिके दृष्टिकर्त्ता कारणोदकशायी पुरुष परव्योमाधिपति भगवानके प्रथम अवतार हैं। काल स्वभावादि उनके कर्म, कार्य-कारणात्मक प्रकृति, महत्तत्त्व, पञ्च महाभूत, अहंकार तत्त्व, सत्त्वादिगुण, समष्टि शरीररूप पातालादि, समष्टि जीव हिरण्यगर्भ, स्थावर एवं जङ्गम प्राणी रूप व्यष्टि शरीर—ये सभी परमेश्वर सम्बन्धी वस्तुएं हैं ॥११॥

प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः ।
आपीयतां कर्णकषायशोषानुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान् ॥१२॥

हे देवर्षे नारद ! उन भूमा पुरुष (परम आनन्दस्वरूप भगवान्) के वराह, यज्ञादि प्रधान प्रधान लीलावतार विषयक बातें सुननेपर दूसरी बातें श्रवण करनेकी वासना रूप मल दूर हो जाता है। उन सभी कथामृतका तुम प्रेमपूर्वक पान करो ॥१२॥

—:※:—

भागवत धर्म याजनकारीका विचार

भगवान्‌की तटस्था शक्तिसे परिणत जीव बद्ध दशामें आनन्द-रहित होनेके कारण भगवान्‌की सेवासे विमुख एवं उसमें प्रीति रहित हैं, वे भगवत्-सेवकके प्रति बन्धुत्व-शून्य हैं, सेवा-निरपेक्ष व्यक्तिके प्रति कृपारहित एवं सेवाविमुख भोगी अहंकारी व्यक्तियोंकी अपेक्षा युक्त हैं। बद्ध-दशामें जीव प्रेमधनसे वञ्चित होनेके कारण सान्द्रानन्द-विशेषात्म-प्रेमसे उनका अन्तःकरण भली प्रकारसे विगलित नहीं होता एवं वे भगवद्विग्रहके प्रति थोड़ी भी ममता नहीं रखते। वे भगवत्सेवा एवं भगवत् प्रेमयुक्त व्यक्तियोंकी सेवासे रहित हैं। वे ईश्वर सेवक व्यक्तियोंका आनुगत्य ग्रहण न कर थोड़े बहुत भगवत् सेवोन्मुख समाजके प्रति बन्धुत्व रहित हैं। दयाका स्वरूप ज्ञान न होनेके कारण कठोर हृदय होकर होकर जीवोंकी भगवत्-विमुखता में सहायता करनेमें सर्वदा उन्मुख हैं एवं भगवद्विमुख आश्रय विहीन व्यक्तियोंके ऊपर प्रभुत्व करनेके लिए लालायित हैं। जीवको भगवान्‌के प्रति उन्मुख करना ही सबसे उत्तम कृपा है। विमुख जीवके वशीभूत न होकर उसके प्रति उदासीनता दिखलाना भी उसके प्रति सदय चित्तवृत्तिका ही परिचय प्रदान करता है। विमुखके साथ सेवोन्मुख व्यक्तिकी मित्रता करने जाकर जो समदर्शनका भान है, वह भगवद्भक्तोंके प्रति मित्रताका अभाव मात्र है।

साधन-राज्यके पूर्णाधिकार प्राप्त करने की पूर्वावस्थामें यदि दुःसंग-वर्जन एवं सत्संग-ग्रहणकी अनुभूति न हो, तो जीव कनिष्ठाधिकारमें ही स्थिति प्राप्त करते हैं। उस समय उनकी ईश्वर-सेवामें थोड़ा-सा अधिकार होनेपर भी भगवत्-परिकर-वैशिष्ट्य एवं परिकर-वैशिष्ट्यके तारतम्य-निर्णयके द्वारा मित्रताके तारतम्यका अनुभव नहीं हो पाता। उस समय वे भगवद्-उन्मुख, भगवत् सेवा-निरपेक्ष एवं भगवद्विद्वेषीको समान

रूपसे देखनेके कारण उनका भक्तिराज्यमें प्रवेशाधिकार नहीं हुआ, यही जानना होगा। जिससमय तक भक्त-अभक्तका विवेक उदितनहीं होता,उस समय तक जीवोंद्वारा सेवोन्मुखताका अनुमोदन करनेपर भी उनका भक्ति-राज्यमें आगे बढ़नेका अधिकार नहीं हुआ, यही जानना होगा। विद्वेषी व्यक्तिके संगको साधनकालमें परित्याग न करनेपर दुःसंगसे प्रतारित होकर जीव अधःपतन प्राप्त कर भगवत्-सेवासे विमुख हो जाते हैं। सेवाकी सुष्ठुता एवं स्वरूप-ज्ञानकी उपलब्धिके लिए सेवाविमुख व्यक्तियोंके अर्थात् मायावादी, कुतार्किक, फलकामी, भोगी, कर्मनिष्ठ एवं ज्ञाननिष्ठ व्यक्तियोंके विचारसे दूर रहकर उनके विचारका अनादर करते हुए अपनी आत्म-रक्षा करना आवश्यक है। जिस प्रकार दुर्बल व्यक्तिका मृत्युको जय करनेके धर्ममें पूर्ण अधिकार न होनेसे विपत्तिमें फँसनेकी सम्भावना रहती है, उसी प्रकार असत्संगका वर्जन कर साधनकी उन्नतिके द्वारा अधिकारके उत्कर्ष या उन्नतिके प्रति दृष्टि रखना चाहिए। जब वे अपनी योग्यताको भली प्रकारसे प्राप्त कर लेते हैं, उस समय प्रतिकूल संग उनके मृत्यु-जय धर्ममें बाधा नहीं प्रदान कर सकता। इसलिए कनिष्ठाधिकारीके अमंगल वरण-कार्यको कदापि उत्तमाधिकार नहीं कहा जा सकता। अथवा मायावादी, कुतार्किक एवं कर्मपरायण व्यक्तियोंके मध्यमाधिकारकी निन्दा कर साधारण योग्यताको ग्रहण करना कदापि उचित नहीं है। अनधिकारी व्यक्ति जिस समय समन्वयवाद (सबको समान समझनेकी चेष्टा) का प्रचार करने जाकर यथेच्छाचारिताको अवसर देते हैं एवं अनुचित रूपसे अपने प्रशंसक बढ़ानेके लिए भगवद्भक्तके अधिकारके ऊपर आक्रमण कर उन्हें अनुदार या संकुचित कहनेकी धृष्टता प्रदर्शन करते हैं, उस समय अहंकारसे विमूढ़ होकर केवल कर्माधिकार या फलभोगाधिकारकी घोर शृङ्खलामें आबद्ध हो पड़ते हैं। कनिष्ठाधिकार प्राप्त कर भगवद्भक्तिके साधनके पथपर अग्रसर होनेपर उनके निकट चार प्रकारसे वस्तुका विलास अन्वय (सत्तात्मक) एवं व्यतिरेक (असत्तात्मक) रूपसे उपस्थित होता है। उस उस विलासकी उपकरणयुक्त सेवन-योग्यता प्राप्त करना हो, तो भगवान्‌के प्रति प्रीति-संग्रह करनेमें तत्पर होना आवश्यक है।

भगवत्-सेवारत व्यक्तियोंके प्रति शुश्रूषा के साथ गाढ़ बन्धुत्व, प्रणामके द्वारा आनुगत्य-बन्धुत्व, अपराध-क्षयके इच्छुक कनिष्ठाधिकारी को नाम-भजनमें उत्साह-प्रदान एवं भगवद्भक्ति विरोधी जड़प्रमत्त अहङ्कारी व्यक्तियोंका संग-वर्जन—मध्यमाधिकारके लक्षण रूपसे प्रकाशित होते हैं। निष्कपट अज्ञानी व्यक्तियोंका मंगल-लाभ अवश्यंभावी जानकर उनकी सेवोन्मुखता में रुचि दिखलाते हुए उनकी सहायता करना ही मध्यमाधिकारका लक्षण है। महाभागवत के दक्षिण हाथके रूपसे भुज प्रसारण कर परोपकार-व्रत ग्रहण करते हुए कृष्णप्रेम-प्रदान कार्यमें सहायता करना ही बालिश (अज्ञ सरल) व्यक्तिके प्रति कृपाका मुख्य लक्षण है। कृपाके गौण-लक्षणमें सेवानुकूल्यका महिमा-प्रचार ही देखा जाता है। अज्ञानी

फलभोगी कर्मी जिस कृपाका आदर्श विचार किया करते हैं, उसमें जो तात्कालिक इन्द्रिय-सुखका सुयोग वर्त्तमान है, उस सुयोगमें सहायता प्रदान करना कपट कृपाका उदाहरण मात्र है। यदि यथार्थ कृपा जीवको संसार-बन्धनसे उन्मुक्त न कर सके एवं भोगोंमें आसक्तमें रखनेकी चेष्टा करे, तो ऐसी दयाका आदर्श केवल प्रतारणामात्र है अर्थात् वह धोखा देना मात्र है, 'दया' नहीं हुई। वैष्णव लोग इसे 'अमायिक या निष्कपट दया' नहीं कहते। 'उपेक्षा' दुर्भागे व्यक्तियोंका ही प्राप्य पुरस्कार है। इससे दोनों पक्षोंका ही अप्रीतिकर विरोधिता रुक जाती है। भगवान् एवं भगवद्भक्तके प्रति जिस स्थलमें विद्वेष देखा जाय, वहाँ समर्थ व्यक्तिके लिए जिह्वा-छेदन-विधि कृपाके भीतर होनेपर भी उसकी उपेक्षा कर उसके द्वारा सञ्चित कुफल-राशिसे अमंगल-वरण करने देना ही युक्तियुक्त या उचित है। अभक्त व्यक्तियोंकी भक्ति-शून्यता का वर्णन करनेसे जीवोंको मङ्गल-पथमें विचरण करनेकी पद्धति दिखलानेका उपकार करना होता है। किन्तु यदि वह बद्धजीव उसे उपकार न समझकर अभक्तके प्रति उदासीन रहनेको मध्यमाधिकारी शिक्षकका अविचार समझकर उनके प्रति अवज्ञा दिखलाते हुए उन्हें पर-निन्दाकारी समझकर अपनी वञ्चना करे, तो ऐसा होनेपर ऐसे कपटी व्यक्तिकी कपटता दिनों दिन बढ़ जायेगी। एवं भगवद्भक्तकी कृपा न समझकर भगवद्भक्त के निकट उपेक्षा ही प्राप्त करते हैं।

श्रीचैतन्य-विमुखता एवं श्रीचैतन्यदास वैष्णवोंका असम्मान करने जाकर यदि कोई व्यक्ति भक्तिसिद्धान्तके वचनोंको अपने भजन में विघ्नकारी समझें, तो कृष्णमें सुदृढ़ रूपसे उनका मन नहीं लग सकता। वे क्रमशः भक्ति पथसे पतित होकर द्वियाभिनिवेशको ही कृष्ण-भजन समझकर अपना अमङ्गल वरण करेंगे। अश्रद्धालु व्यक्तिको हरिनाम-दान या 'भक्त' समझनेकी भ्रान्त धारणा द्वारा जीव कदापि नाम-भजनमें उन्नति नहीं प्राप्त कर सकते। अज्ञ व्यक्ति अपनेको महाभागवत समझकर वैष्णव-गुरुके प्रति जो द्रोहाचरण करते हैं, वह उन वैष्णव-गुरुकी कृपा प्राप्तिमें बाधास्वरूप है। क्रमशः इस प्रकार अहङ्कार-विमूढ भक्ताभिमानी व्यक्ति शुद्ध भक्तोंके मध्यमाधिकारके विचारानुसार उपेक्षाके पात्र हो पड़ते हैं एवं भक्त-प्रसादसे प्राप्त कृपासे वञ्चित होकर नामापराध करते करते असाधु हो पड़ते हैं। [illegible] इसलिए ही विद्ध भक्ताभिमानी व्यक्तियोंकी सब प्रकारसे उपेक्षा करते हैं। ऐसी उपेक्षा ही उनकी दयाका श्रेष्ठ परिचय है। मध्यम अधिकारमें अर्चनकी सुष्ठुता पूर्णता प्राप्त कर भजनमें परिणत होती है। अर्चन एवं भजन में यह पार्थक्य है कि पहला मर्यादापथ का अनुष्ठान है एवं दूसरा नामाश्रयके द्वारा मर्यादापथके बाहरी विचारसे शिथिलता जैसे जान पड़नेपर भी सब प्रकारसे भगवत्-सेवन-चेष्टा है।

भागवत-धर्म शिक्षार्थी सब प्रकारसे मनोवेगका दमन करेंगे। साधुसंगके प्रभावसे कृष्णेतर वस्तुमें आसक्ति नहीं रहती। तब समभावयुक्त व्यक्तियोंके प्रति मित्रता, अपनेसे

श्रेष्ठ व्यक्तियोंके प्रति पूजा एवं अपनेसे कनिष्ठ व्यक्तियोंके प्रति भगवत्-सेवाका उपदेश करने पर ही मन का दमन होगा। कायमनोवाक्यसे दण्ड-ग्रहण करनेपर शम-दमादि अपने आप उदित होते है। 'दम' का अर्थ इन्द्रिय-निग्रह है। 'सम' का अर्थ भगवान्के प्रति निष्ठाबुद्धि है। त्रिदण्डी व्यक्तियोंमें ये सभी गुण फलरूप से उदित होते है। वे भागवत-शास्त्रके प्रति अकृत्रिम या निष्कपट श्रद्धाविशिष्ट होते हैं एवं भागवत-विरोधी मतोंके प्रति निरपेक्ष होकर निन्दा नहीं करते। जिनमें भागवतके प्रति दृढ़ श्रद्धा हो, उनमें त्रिदण्ड-ग्रहणका अधिकार होना अनिवार्य है। बाहरी जगतकी कृष्णेतर सेवोपयोगी वस्तुसे भेद-बुद्धि एवं सेवोविमुख मनके भावोंके प्रति अनादर—ये दोनों प्रकारकी पवित्रताएँ ही श्रीभागवत आश्रित व्यक्तियोंमें अवश्यंभावी हैं। बाहरी जगतकी वस्तुएँ भगवद्विमुख जीवोंके भोग्य हैं—इस विचारका परित्याग करना ही बाहरी शुद्धि है। भगवद्विमुख स्मार्त्त व्यक्तियोंकी मिट्टी-जलादि द्वारा शुद्धि गौण रूपसे शौचका आदर्श होनेपर भी प्रधानतः भगवत्-सम्बन्ध रहित वस्तुएँ ही अशुचिके भण्डार हैं। अहङ्कारका अवलम्बन कर श्रीहरि-गुरु-वैष्णव के प्रति विराग एवं विरुद्ध भावका पोषण ही भीतरी अशुद्धिका परिचय है। अदांभिकता ही भागवत-जीवनकी अहङ्कार-शून्यताका परिचय है।

भगवद्भक्त स्वधर्ममें अवस्थित होकर सेवानुकूल विषय-ग्रहण एवं सेवाविमुख पदार्थके संगत्यागको ही तपस्या जानते हैं। नहीं तो सेवाविमुख तपस्याका कोई मूल्य ही नहीं है।

आगमापायी अनित्य वस्तुओंके ग्रहण एवं त्यागादिकी पिपासा—भागवत-जीवनके लिए बाधा स्वरूप है। प्राकृतिक क्षोभ या उद्वेगका कारण होनेपर भी क्षोभ या उद्वेग प्राप्त न होना ही तितिक्षा या सहनशीलताका लक्षण है। मायावादादि कुतर्क-शास्त्रोंमें आदर, औपाधिक इन्द्रियोंका परिचालन करते हुए बाहरी जगत्की वस्तुओंको भोग करनेका प्रयास युक्त होकर कर्मकाण्ड-शास्त्रका अध्ययन तथा अध्यापन एवं यथेच्छाचारिताके सहायक वचन-चातुरी आदिका त्याग ही भागवत-जीवनके मौनके लक्षण है स्वरूप-बोधके अभाव में प्राकृत दुःखसे ग्रस्त हो जाना, इन्द्रिय-तर्पणपर होकर प्रवृत्तिमार्गमें विचरण करना, कृष्णको छोड़कर दूसरी वस्तुओंमें अनुराग दिखलाना, द्वियाभिनिवेशके कारण हरिविमुखता-प्राप्ति आदि मुनिवृत्तिके लिए हानिकारक हैं। शब्दकी विद्वत्रूढ़ि वृत्ति (मुख्यतम वृत्ति) द्वारा आकृष्ट होकर कृष्ण नाम-कीर्त्तन ही मौन-धर्मके लिए प्रशंसनीय है या उन्नतिकारक है। कृष्णेतर कथासे निवृत होना या प्रजल्पादि कार्यके प्रति उदासीन ही मुनिका लक्षण है।

सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजन ज्ञानपूर्ण वेद-शास्त्रका अनुशीलन ही 'स्वाध्याय' है। श्रौत पथका अनुगमन करते हुए हरिसेवानुकूलताके साथ वेदानुग शास्त्राध्ययन ही सर्वदा कर्त्तव्य है। श्रौत-गृह्यादिसूत्र विशेषमें प्रमत्त होकर

कर्मकाण्डकी ओर झुकाव स्वाध्याय-परायण व्यक्तियोंको एकायन पद्धतिसे भ्रष्ट करता है। ऐकान्तिक सेवा-प्रवृत्तिको पानेके लिए शब्दकी मुख्यतम वृत्तिका आश्रय कर जो सभी साहित्य एवं आगम-निगमादिके मन्त्रोपदेश कहे गये हैं, उनका एकनिष्ठताके साथ श्रवण एवं ग्रहण ही स्वाध्यायका लक्षण है।

भगवद्विमुख जीवमें 'सरलता' नामकी कोई वृत्ति नहीं रह सकती। भगवत्-सेवा-परायण व्यक्ति ही सब प्रकारसे सहज पथके पथिक हैं। प्राकृत सहजिया लोग कपटताके वश होकर भगवान्‌की सेवा करनेमें असमर्थ होते हैं। प्राकृत सहजियाओंकी क्रूर-बुद्धि एवं भगवत्-सेवाविमुखता आर्जव (सरलता) से बहुत दूरमें स्थित हैं।

उपाधियुक्त अहं-मम भावयुक्त व्यक्तियोंके लिए कपटता ही अवलम्बन है। उसी छलना का आश्रय कर जीवका धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—इन चतुर्वर्गमें रुचि उत्पन्न होती है। वही असरलता है। आत्मधर्ममें रहकर सरलभावसे भगवत्सेवा ही कर्त्तव्य है। ब्रह्म-ज्ञानी, स्वाध्याय-परायण व्यक्ति लोग अपनी ऋजु वृत्ति (सरल वृत्ति) का लक्षण प्रदर्शन करनेपर ही सेवानुकूल विचारके साथ ब्रह्मण्य-धर्ममें प्रतिष्ठित हो सकते हैं। नहीं तो क्रूरता के वश होकर अधर्म-वृत्ति-जीवी होकर पतित होते हैं तथा हरि-विमुखता संग्रह करते हैं।

वैष्णवोंके आचार-वर्णनमें योषित्-संगका आदर नहीं है। भगवद्विमुख व्यक्ति लोग स्त्रैण-भावापन्न होनेके कारण एवं जड़ प्रकृतिसे उत्पन्न जगतका भोग करनेके लिए इन्द्रिय-तर्पणमें प्रमत्त होनेके कारण ब्रह्मचर्य-रहित हैं। स्वाध्यायके बिना भगवान्‌के प्रति काय-मन-वचनकी वृत्ति नियुक्त नहीं हो सकती। ब्रह्ममें विचरण करनेवाले व्यक्ति ही भगवत्-सेवामें नियुक्त हो सकते हैं। प्राकृत सहजिया लोग प्रापंचिक भोग्य वस्तुओंके भोक्ता अभिमानमें मदमत्त होकर विकृत राजस, तामस अहङ्कारमें नियुक्त हैं। उस समय परिच्छिन्न (आवरणयुक्त) ससीम, खण्ड एवं हेय वस्तुओंके पूजन कार्यमें आत्मनियोग करने के कारण ब्रह्मचर्यका अभाव होता है। कृष्णसेवानुकूलताके द्वारा सारी इन्द्रियोंका नियोग ही ब्रह्मचर्यका तटस्थ या गौण लक्षण है एवं कृष्णसेवोन्मुख विचार ग्रहण कर अग्रसर होनेपर ही ब्रह्मचर्यकी सफलता होगी। नहीं तो केवल यदि पशुशालाके जीवको ही ब्रह्मचर्यका आदर्श कहे एवं राजदण्ड द्वारा दण्डित कारागार-वासियोंका इन्द्रिय-तर्पणसे वञ्चित होनेको ही ब्रह्मचर्य कहा करे, तो अब्रह्ममें विचरण या अवैदिक होनेमें क्या कसर बाकी रही? अश्रौतपन्थी या तर्कपन्थी कदापि भागवत या ब्रह्मचारी नहीं हो सकते। गृहस्थाश्रमी वैष्णव लोग निशाकालके कृत्यमें संयम रखते हैं।

विष्णुभक्तिपरायण व्यक्ति ही निर्मत्सर हैं। बौद्ध एवं जैन नीति यद्यपि अहिंसादि विचारकी ओर बढ़नेमें रुचि दिखलाती हैं, तथापि उन नीतिके अवलम्बनकारी व्यक्ति आत्मघाती हैं। उनमें अनात्म-विचार प्रबल होनेके कारण प्राकृत या जड़ विचारके वश होकर जड़ जगतके भोग-प्रयासमें अपनेको

नियुक्त करते हैं। इस प्रकार अनात्मविद्की अपनी आत्मापर ताड़ना-हिंसाका ही प्रकार-भेद है।

'चैतन्य-चन्द्रेर दया करह विचार। विचार करिले चित्ते पावे चमत्कार'—यह बात न समझकर जो व्यक्ति अहिंसाकी कृत्रिम व्याख्यामें नियुक्त रहते हैं, वे लोग आत्मघाती होकर हरिसेवा-तात्पर्यको 'अहिंसा' के रूपमें जान नहीं पाते। बर्बर व्यक्ति लोग ही हिंसा-वृत्तिका अवलम्बन कर भागवत या भक्तोंकी अहिंसा-वृत्तिका आदर नहीं कर सकते। बालकोचित अधैर्य उन्हें भक्ति-विद्वेषी बनाकर हिंसा-राज्यमें चतुर्वर्गाभिलाषी कर डालता है। कृष्णप्रेम ही जो वेद-प्रतिपाद्य प्रयोजन तत्त्व है—इसे वे लोग समझ न पाकर मत्सर स्वभाव ग्रहण करते हैं।

इस जड़ संसारमें विपरीत धर्म विपरीत रुचियुक्त व्यक्तियोंको विभिन्न बन्धनोंमें आबद्ध करता है। कोई व्यक्ति किसी विशेष कार्यको नीतिपुष्ट मानकर उसके विपरीत कार्यको 'दुर्नैतिक' कहा करते हैं। अपने अपने क्षुद्र स्वार्थका पोषण करनेके उद्देश्यसे तीन प्रकार के अहंकारयुक्त भगवद्विमुख जीव अपने अपने द्वारा किये गये कार्यको नीतिपुष्ट कहकर सिद्धान्त करते हैं। ये परस्पर विवादयुक्त विपरीत भाव जिनके हृदयको विचलित नहीं करते, वे ही समता प्राप्त करते हैं।

"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।"—निर्विशेषवादी लोग श्रीमद्गीताके इस श्लोकका तात्पर्य समझनेमें असमर्थ हैं, क्योंकि उनकी भक्ति-विमुखता तीन प्रकारके अहङ्काररूपी रस्सीद्वारा उन्हें आबद्ध कर सत्य की ओर बढ़ने नहीं देती। बन्धन-मुक्तिके ज्ञाता पण्डित व्यक्ति ही 'समदर्शी' हैं। निर्विशेषवादी लोग इस प्रपंचके ऊँचे-नीचे भावोंके साथ वास्तव सत्य—जो प्रपञ्च-रचनाके पहले एवं पश्चात् भी अवस्थित रहते हैं, उसका वस्तुगत भेद कल्पना कर तात्कालिक बाहरी स्थूल ज्ञानसे चालित, तीनों गुणोंसे उत्पन्न, जगतके भावोंमें आबद्ध रहनेके कारण, समता से, अप्राकृतसे, अभेदसे अचिन्त्य भेदाभेद विचार रूप समत्वसे रहित हैं। वे लोग इन्द्रिय-तर्पणपर प्राकृत भावापन्न हैं तथा अधोक्षज सेवाविमुख होकर विषमतामें प्रतिष्ठित हैं। अपने भावोंको प्रतिकूल भावयुक्त जाननेपर ही वे लोग भागवत-जीवन की समता क्या है, यह समझ सकेंगे।

दृश्य जगत्को भगवद्विमुख व्यक्तियोंका इन्द्रिय-भोग्य क्षेत्रविशेष विचार न कर सभी वस्तुओंमें ही भगवत्सेवोपकरण होनेकी योग्यता है एवं अन्तर्यामी होनेके नाते भगवद्वस्तु उनके निकटसे उस उस आंशिक सेवाको ग्रहण करते हैं—ऐसा दर्शन कर अपने भोगका आरोप न कर भागवत-जीवन प्राप्त करना उचित है। भगवान्से सम्पूर्ण पृथक् एवं भगवद्-विरोधी-ज्ञानसे प्रापंचिक-विषय-त्यागी मायावादी लोग विवर्त या विपरीत भावका आश्रय ग्रहण करते हैं। ऐसा विचार

शुद्धाद्वैत विचारसे भागवत-जीवनके प्रतिकूल है। शुद्धाद्वैत विचारपरायण श्रीश्रीमद्-आनन्दतीर्थ मध्वाचार्यने दृश्यवस्तुमें जिस भेद का विचार किया है, उस भेद-दर्शनमें भगवद्-आनन्द-बाधका प्रकाश देखा जाता है। जीव-विचारसे केवलाद्वैतवादी जिस प्रकार स्वगत-सजातीय-विजातीय भेदरहित जीव-ब्रह्मैक्यवाद स्वीकार या दर्शन करते हैं, भक्तोंके दर्शनमें वैसा दर्शन स्वीकार नहीं किया जा सकता। चिद्धर्मयुक्त जीव अचिद्भेद में प्रतिष्ठित नहीं हैं या अपने ईश्वरत्वमें विमूढ़ नहीं हैं। जीवोंकी स्थूल-सूक्ष्म उपाधिमें आनन्द की बाधा वर्त्तमान है। उसे ही दृश्यज्ञानसे भोग-परायण जीव जगन्मिथ्यात्ववाद स्वीकार न करनेपर भी जगतमें चिदानन्दको स्वीकार नहीं करते। जिस समय वे भगवद् अवतार की प्रापंचिक अवस्थितिका अनुभव कर आत्मा के मंगल-विधानमें समर्थ होते हैं, उस समय जीवोंके आनन्दमें कोई कमी नहीं होती या जगत्के प्रति भोग्य-विचार प्रबल नहीं होता। दृश्य-जगत् एवं मिश्रभावापन्न जीव—दोनों ही स्वरूपसे भगवान्के चित्सेवोपकरण हैं एवं परमात्माका उनमें अन्तर्यामित्व होनेके कारण दोनों आश्रयजातीय हैं, इस प्रकारके समभाव में प्रतिष्ठित होनेपर सर्वत्र ही अपने प्रभुका सम्बन्ध देखा जाता है। अद्वयज्ञान व्रजेन्द्रनन्दन में ही एकमात्र आकर्षण-धर्मकी विशुद्धता है, ऐसे दिव्य ज्ञानके उदय होनेपर जीव यह अनुभव कर पाता है कि केवला भक्ति ही आत्माकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

महाभागवत 'अनिकेत' अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म शरीरमें उनकी नित्य अवस्थिति नहीं है, यह बात समझ सकते हैं। गृहमें, शरीरमें एवं भूताकाशमें सर्वत्र भगवत् सम्बन्ध दर्शन कर उनका नित्य निवास-स्थान भगवत्-पादपद्म-धूलिमें अवस्थित है, यह बात समझनेमें समर्थ होनेपर सात्त्विक वनवास, राजसिक ग्राम-वास एवं तामस द्यूत-क्रीड़ा सदनारूप जड़ेन्द्रिय-तर्पणपरतामें निवास न कर वे अनिकेतन अर्थात् भगवत्-आश्रित होते हैं। आश्रित तत्त्व जीव अंशी भगवान्का अंशविशेष है तथा ऐसी स्वरूपानुभूतिमें भेद-ज्ञान प्रबल है एवं ऐसे आश्रित तत्त्वरूप जीव नित्य अद्वयज्ञानवस्तु भगवान्की अखण्ड शक्तिमें अवस्थित है। इस बातका मायिक भेदकी दृष्टिसे विचार करनेपर अचिन्त्यत्वकी हानि होती है, ऐसी अनुभूतिका न होना ही अनिकेतत्त्व है। प्रपञ्चमें रहते समय सभी वस्तुएँ ही भगवत् सम्बन्धसे युक्त हैं, ऐसे विचारके प्रबल होनेपर जीवोंमें असन्तोषका कोई कारण नहीं रहता। वे तब भली प्रकार से लज्जा-निवारणके लिए व्यस्त न होकर साधारण व्यक्तियोंकी दृष्टिसे अपना देहका वल्कलादि द्वारा आच्छादन करते हैं एवं भगवत् सङ्गियोंके नित्य सङ्गमें वास करनेकी इच्छासे मायावादी, कर्मी, ज्ञानी एवं यथेच्छाचारीके सङ्गका त्याग करते हैं।

दुःसङ्ग पानेकी आशासे अहंग्रहोपासक (स्वयं भगवद्वस्तु बननेके इच्छुक) व्यक्ति या प्रवृत्ति मार्गपरायण भोगाकांक्षी व्यक्ति जिस विचारका अवलम्बन कर श्रीमद्भागवतका अध्ययन करते हैं, स्वरूपज्ञान प्राप्त भागवत व्यक्ति ऐसी निन्दा एवं प्रशंसाका कदापि समर्थन नहीं करते।

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

प्रश्नोत्तर

(वैष्णव-सदाचार)

१-किस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त साधुका सङ्ग एवं सेवा करनी चाहिए ?

"बाहरी चिह्नोंके प्रति उदासीन रहकर प्रीति-लक्षण अन्वेषण करते हुए साधुसंग एवं साधुसेवा करना वैष्णवोंका नित्य कर्त्तव्य है।"

—कृ०स० ८।१७

२-वैष्णवमात्रका क्या कर्त्तव्य है ? वैराग्यको क्या चेष्टा द्वारा उत्पन्न करना पड़ता है ?

वैष्णवोंके पूर्व पाप, बचे हुए पाप, नष्ट होनेवाले पाप या हठात् उपस्थित पापको देखकर दोष नहीं मानना चाहिए। सत् उद्देश्य के बिना किसी व्यक्तिके पापकार्यकी चर्चा नहीं करनी होगी। सभी जीवोंके प्रति यथोचित दया करना होगा। अपनेको दीन समझकर सभीको यथायोग्य सम्मान देकर स्वयं अमानी रहना चाहिए। गृहस्थ वैष्णव अनासक्त होकर कृष्ण-सम्बन्धभावको पवित्र रूपसे मिश्रित कर यथायोग्य विषयोंको ग्रहण करते हुए हरिनाम रसका साधन करेंगे। जब कृष्णके प्रति रुचि सम्पूर्ण रूपसे उदित हो जायगी, तब विषयरुचि सम्पूर्ण रूपसे हट जायगी। ऐसी अवस्थामें अभाव-संकोच रूप एक प्रकारके स्वाभाविक वैराग्य भावका उदय होगा। चेष्टा करनेसे ऐसा नहीं होता।"

—श्रीम० शि० १० म प०

३-वैष्णवोंके सभी गुणोंका किस प्रकार कीर्त्तन करना होगा ?

"वैष्णवोंके जन्म, निन्द्रा, आलस्यादिका प्रकाश न करना चाहिए। उन सभी बातोंको देखकर किसी को भी कुछ नहीं कहना चाहिए। उनके दोषोंका शीघ्र परित्याग कर सभी गुणोंका कीर्त्तन करना चाहिए।"

—'श्रीरामानुजस्वामीका उपदेश' ३०-३१, स० तो० ७।३

४-विष्णु-वैष्णवके साम्ने किस प्रकार बैठना उचित है ?

"भगवान् विष्णु या विशुद्ध वैष्णवोंके निकट पाँव फैलाकर बैठना नहीं चाहिए।"

—'श्रीरामानुजस्वामीका उपदेश',-१४, स० तो० ७।३

५-वैष्णवोंके निकट अपनी प्रशंसा एवं परनिन्दा करना क्या उचित है ?

"वैष्णवोंके निकट अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए और किसी की निन्दा भी नहीं करनी चाहिए।"

—'श्रीरामानुजस्वामीका उपदेश'—४२, स० तो० ७।४

६-साधक क्या अपनेको वैष्णवोंके साथ समान ज्ञान करेंगे ?

"अपनेको कदापि वैष्णवोंके साथ समान न समझना चाहिए।"

—'श्रीरामानुजस्वामीका उपदेश'-३५
स० तो० ७।४

७-कृपा करनेके छलसे धर्मध्वजी एवं मायावादीका सङ्ग करना क्या दोषजनक नहीं है ?

"जो व्यक्ति प्रतिष्ठाशा या भुक्ति-मुक्ति वांछाके द्वारा चालित होकर शठताका आश्रय करें, वे अपराधी या द्वेषी हैं। भक्तजन विशेष यत्नके साथ ऐसे व्यक्तियोंकी उपेक्षा करेंगे। किसी भी प्रकारसे उनका सङ्ग नहीं करना चाहिए। उनपर कृपा करनेके छलसे उनका संग कर बहुतसे व्यक्तियोंका अन्तमें पतन होता है।"

—'असत्संग', स० तो० ११।६

८-विषयी लोगोंमें आसक्त व्यक्तिका क्या संग करना होगा ?

"कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो स्वयं इतने विषयी नहीं हैं, किन्तु फिर भी विषयी लोगोंके संग द्वारा प्रीति प्राप्त करते हैं। उनका संग भी सर्वथा परित्याग करने योग्य है।"

—'जनसंग', स० तो० १०।११

९-गृहस्थ वैष्णव किस प्रकारके व्यक्तिके गृहमें प्रसाद पायेंगे ?

"गृहस्थ वैष्णव सच्चरित्रवाले गृहस्थके गृहमें प्रसाद एवं अन्नपान आदि ग्रहण करेंगे। अभक्त एवं असच्चरित्र व्यक्तिके गृहमें सर्वदा सावधानीसे प्रसाद पायेंगे।"

'संगत्याग', स० तो० ११।११

१०-माधुकरी एवं स्थूल भिक्षामें जो भेद है, उसे क्या ख्याल नहीं रखना होगा ?

"माधुकरी एवं स्थूल भिक्षामें जो भेद है, उसे सर्वदा मनमें रखना होगा।"

—'संगत्याग', स० तो० ११।११

११-असत्संगके होनेपर भी क्या कृष्णभक्ति पानेकी आशा है ?

"असत्संगका त्याग नहीं करने पर कृष्णभक्ति पानेकी कोई आशा नहीं है।"

—'संगत्याग,' स० तो० ११।११

१२-कौन सा कार्य वैष्णवोंका प्रधान आचार है ?

"असत्संगत्याग ही वैष्णवोंका प्रधान आचार है। असत् दो प्रकारके हैं अर्थात् स्त्रीसंगी एवं अभक्त। स्त्रीभक्तके लिए 'पुरुषसंग' को 'असत्' जानना होगा। अवैध स्त्रीसंगी एवं वैध सम्बन्धसे स्त्रीमें आसक्त पुरुष—ये दो प्रकारके योषित्संगी हैं।"

—'साधुनिन्दा' ह० चि०

१३-प्रत्येक हरिवासमें कौनसा विषय चिन्ता करने योग्य है ?

"प्रत्येक हरिवासरमें एक बार चिन्ता कर देखना होगा कि पिछले पक्ष या पखवाड़ेमें

हमारी कितनी भजनोन्नति हुई है । यदि देखा जाय कि कुछ भी उन्नति नहीं हुई या कुछ अवनति हुई है, तो असत्संगको ही कारण जानकर उसे परित्याग करनेका प्रयास करना होगा ।"

—'असत्संग परित्याग', स०तो० ४।५

१४–वैष्णवाचारकी किस प्रकार रक्षा होगी ?

"असत्संग परित्याग न करने पर वैष्णव आचार नहीं होता । असत् दो प्रकार है—अर्थात् स्त्रीसंगी एवं कृष्णभक्तिहीन ।"

—'असत्संग परित्याग', स० तो० ४।५

१५–किस विषयमें वैष्णवोंका सम्मान करना चाहिए ?

"यदि कोई उत्तमाधिकारी गृहस्थ हों, एवं मध्यमाधिकारी गृहत्यागी हों, तो निम्नाधिकारी उच्चाधिकारीको दण्डवत् प्रणाम करेंगे ।"

जै० ध० ८म प०

१६–त्यागी भक्तका अधिकार किस प्रकार है ?

"गृहत्यागी भक्तका अधिकार इस प्रकार है—सर्वप्रथम स्त्रीसंगकी स्पृहाका बिलकुल न होना, सभी जीवोंके प्रति पूर्ण दया, अर्थव्यवहारमें तुच्छ ज्ञान, केवल उदर-भरण एवं आच्छादन वस्त्र संग्रह करनेके लिए अभाव कालमें चेष्टा, कृष्णके प्रति श्रद्धा-रति, बहिर्मुख संगके प्रति तुच्छ ज्ञान, मान-अपमान में समान बुद्धि, विराट् आडम्बरकी स्पृहा न होना एवं जीवन-मरणमें रागद्वेषशून्यता ।"

जै० ध० ७म अ०

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

***

सन्दर्भ-सार

(भक्ति-सन्दर्भ—३२)

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥
(भा० ११।२०।९)

श्रीभगवान् उद्धवजीसे कहते हैं—जबतक कर्मविषयमें विराग न हो, या मेरी कथा आदिके श्रवणादिमें श्रद्धाका उदय न हो, तब तक कर्मोंका आचरण करना होगा । कर्मके अर्थमें नित्य-नैमित्तिक सभी कर्मोंको जानना होगा ।

पद्मपुराणमें भी कहा गया है—

श्रुति-स्मृती ममेवाज्ञे यस्तु उल्लंघ्य वर्त्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

अर्थात् श्रुति-स्मृति आदि मेरी ही आज्ञा रूपिणी हैं। जो व्यक्ति उनका लंघन करे, वह आज्ञाका अवज्ञाकारी मेरा विद्वेषी है। इसलिए ऐसा व्यक्ति मेरे भक्तरूपसे परिचित होने पर भी वैष्णव नहीं है। इस वचनमें कहे गये दोष भी यहाँ संभवपर नहीं है। क्योंकि आज्ञाका ही पालन किया गया है। परन्तु निर्वेद एवं श्रद्धा उत्पन्न होने पर भी यदि कर्मका अनुष्ठान करे, तो ऐसा होनेपर आज्ञा का लंघन होता है। इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स तु सत्तमः॥

सभी धर्मोंके अनुष्ठानमें गुण एवं न अनुष्ठान करनेपर दोष जानकर मेरे द्वारा कहे गये दूसरे सभी धर्मोंका परित्याग कर जो व्यक्ति एकमात्र मेरा ही भजन करे, वे परम साधु हैं। यहाँ भक्तिमें दृढ़ता होनेके कारण उस अधिकारमें चिन्हरूपी सभी स्वधर्मों(आत्म धर्मको छोड़कर दूसरे धर्मों) का परित्याग बतलाया गया है। निवृत्ति-धर्ममें अधिकारके बारेमें श्रीकरभाजन मुनि कहते हैं—

देवर्षि भूताप्तनृणां पितृणां
न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्य
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्॥
(भ ११।५।४१)

अर्थात् जो व्यक्ति लौकिक कर्त्तव्योंका परित्याग कर सब प्रकार भगवान् श्रीहरिके पादपद्मोंमें शरणागत हो, वे देवता, ऋषि, पितृगण, मनुष्य या दूसरे प्राणीके निकट ऋणी नहीं हैं, या उनके भृत्य भी नहीं हैं। अतएव इन सभी विषयोंमें उनके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं रहा। 'कर्त्त' शब्द भेदवाचक होनेपर यहाँ देवताओंका भेद या स्वतन्त्रता जानना होगा। गरुड़-पुराणमें भी कहा गया है—

अयं देवो मुनिर्वन्द्य एषः ब्रह्मा बृहस्पतिः।
इत्याख्या जायते तावत् यावन्नार्चयते हरिम्॥

अर्थात् मनुष्योंमें ये देवता, मुनि, ब्रह्मा, बृहस्पति आदि मेरे वन्दनीय हैं'—ऐसा ज्ञान तभी तक रहता है, जब तक वे श्रीहरिका अर्चन न करें।

इसलिए विरुद्ध कर्माचरणके जिए उनको प्रायश्चित्तादि कर्त्तव्य नहीं है। क्योंकि भगवान्के शरणागत व्यक्तियोंका पापोंमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। यद्यपि हठात् कोई विरुद्ध कार्य उपस्थित हो, तो भी सब समय भगवान् की स्मृतिद्वारा गौणरूपसे प्रायश्चित्त भी हो जाता है। यह दूसरे श्लोकमें कहा गया है—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचित्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

अपने पादपद्मोंके भजनपरायण दूसरे भावोंके परित्यागकारी प्रिय भक्तके लिए यदि

कभी विरुद्ध कर्म उपस्थित हो, तो उसके हृदयमें वर्त्तमान श्रीहरि उन सभीको दूर कर देते हैं। 'त्यक्तान्यभाव' कहनेसे जो दूसरे देवताओंका भजन नहीं करते। इस मिससे शरणापत्ति एवं श्रद्धाका एक ही अर्थ पाया जाता है। क्योंकि श्रद्धा कहनेसे शास्त्र-प्रतिपाद्य विषयमें विश्वास ही है। श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेवने भी कहा है—

श्रद्धा शब्दे-विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय॥

शास्त्रोंमें अशरणागत व्यक्तिके लिए भय एवं शरणागत व्यक्तिके लिए अभय कहा गया है। देवताओंके सन्तोषके लिए भी अलग रूपसे उनकी पूजा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि श्रीमद्भागवत (४।३१।१४) में कहा गया है—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

जिस प्रकार पेड़के जड़का सींचन करने पर शाखा-पत्ते आदि सभीकी परितृप्ति होती है। प्राणमें आहार देनेपर सभी इन्द्रियोंका ही आहार हो जाता है, उसी प्रकार श्रीअच्युतकी पूजा द्वारा सभी देवतादि सभी प्राणियोंकी ही पूजा हो जाती है।

कर्मत्यागी व्यक्तिकी भक्ति बाधाओं द्वारा रुक जाने पर भी कर्मत्यागके लिए अनुताप करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि श्रीमद्भागवत (१।५।१७) में कहा गया है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
कोवार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

यदि कोई व्यक्ति स्वधर्मका परित्याग कर श्रीहरिपादपद्म भजन करते करते अपक्व दशामें ही यदि पतित या मृत्युके वश हो जाय, तो भी उनका स्वधर्म त्यागके कारण अमंगल न होगा। बल्कि श्रीहरिपादपद्मके भजन बिना केवल स्वधर्म-पालनसे कोई भी प्रयोजन प्राप्त नहीं होता। इसलिए भगवान्‌ने स्पष्ट आज्ञा दी है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता० १८।६६)

अर्थात् हे अर्जुन! तुम सभी धर्मोंका परित्याग कर एकमात्र मेरे (कृष्णचन्द्रके) ही शरणागत हो जाओ। (यदि सोचो कि उससे तुम्हारा पाप होगा तो) मैं तुम्हें सभी पापोंसे मुक्त करूँगा, तुम किसी प्रकारसे शोक मत करो। इस कथनके साथ देव-ऋषि पितृ-मनुष्यादिके किंकर नहीं है—इस कथनका समान अर्थ देखा जा रहा है। अतएव भक्तिके प्रारम्भमें ही सम्पूर्ण रूपसे स्वरूपतः कर्मका त्याग करना चाहिए। गौतमीय तन्त्रमें भी कहा गया है—

न जपो नार्चनं नैव ध्यानं नापि विधिक्रमः।

केवलं सततं कृष्णचरणांभोजभाविनाम् ॥

जो व्यक्ति सर्वदा अनन्य होकर श्रीकृष्णपादपद्मका ध्यान करते हैं, उनके लिए जप, अर्चन, ध्यान या किसी प्रकारका विधि-नियम नहीं है। श्रीमद्भगवत्‌गीतामें भी कहा गया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

तुम मद्गत चित्त होओ, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो एवं मुझे ही नमस्कार करो। इस वाक्यमें भी अनन्यभक्तिकी बात कही गई है।

श्रीविष्णुपुराणमें भी राजर्षि भारतके बारेमें कहा गया है—

यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवानन्द केशव।
कृष्ण विष्णो हृषीकेशेत्याह राजा स केवलम्।
नान्यज्जगाद मैत्रेय किंचित् स्वप्नान्तरेष्वपि ॥

वे राजा केवलमात्र हे यज्ञेश ! हे अच्युत ! हे गोविन्द ! हे माधव ! हे केशव ! हे हृषीकेश ! हे विष्णु ! इस प्रकारसे नामोंका उच्चारण करते थे परन्तु स्वप्नमें भी दूसरे वाक्य नहीं कहते थे। यहाँ उनके लिए दूसरे वचनोच्चारण करने का समय न होनेके कारण दूसरे वचनोंसे पूर्ण अन्यान्य कर्मोंका त्याग ही हुआ था।

श्रीपद्मपुराणमें भी कहा गया है—

सर्वधर्मोज्झिता विष्णोर्नाममात्रैकजल्पकाः।
सुखेन यां गतिं यान्ति न तां सर्वेऽपि धार्मिकाः॥

सर्वधर्मरहित केवलमात्र विष्णुनामोच्चारण करनेवाले व्यक्ति अनायास ही जो गति प्राप्त करते हैं, दूसरे सर्वधर्मपरायण व्यक्ति वह प्राप्त नहीं कर सकते। अतएव दूसरे मतानुसार भी मनुष्यका अनन्यभक्तिमें अधिकार एवं कर्मादिमें अनधिकारका समर्थन किया गया है। परन्तु श्रद्धाके अस्तित्वको कैसे जाना जाय, उसीका विचार किया जा रहा है।

श्रीभगवान्‌ने कहा—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता० ९।२२)

जो व्यक्ति अनन्यचित्त होकर मेरी उपासना करे, मैं उस नित्य योगपरायण भक्तका योगक्षेम (पालन भार) वहन करता हूँ। विशेषकर श्रद्धायुक्त व्यक्ति शास्त्रोंमें भगवत्‌सम्बन्धी द्रव्य, जाति गुण एवं सभी क्रियाओंका ऐहिक व्यवहारिक प्रभाव सुनकर भी उसमें अविश्वासयुक्त नहीं होते। अतएव उनके उस विषयमें प्राकृत द्रव्यादिके समान समझते हुए दोषानुसन्धान नहीं करते। इसलिए भक्तिविषयमें अप्रवृत्ति नहीं होती। इन वस्तुओंमें यथार्थ रूपसे ऐसा प्रभाव वर्त्तमान है। यथा

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
सर्वदुःखोपशमनं हरिपादोदकं शुभम् ॥

श्रीहरिका शुभ पादोदक अकाल मृत्युका निवारण, सर्वव्याधिनाश एवं सभी दुःखोंका दमन करते हैं। कोई कोई व्यक्ति उसमें विश्वास करके श्रद्धायुक्त होने पर भी अपने

अपराधोंके कारण वर्त्तमानमें फल होते न देखकर उससे विरत हो जाते हैं।

यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यंतरः शुचिः।

अर्थात् जो व्यक्ति पुण्डरीक (कमल) जैसे नेत्रवाले भगवान्‌का स्मरण करते हैं, वे बाहरी रूपसे एवं भीतरी रूपसे पवित्र हो जाते हैं। इस वाक्यमें श्रद्धावान् होकर भी भक्त लोग फिरसे जो स्नानादि करते हैं, वह केवल श्रीनारद,श्रीव्यास आदि महाजनों द्वारा प्रवर्त्तन किये गये आचरणके गौरवकी रक्षा के लिए ही होता है। नहीं तो उसके लंघनसे भी अपराध होता है। क्योंकि साधारण व्यक्तियोंके कदाचार आदिका निवारण करने के लिए ही उन्होंने इन नियमोंका विधान किया है। श्रद्धाके उत्पन्न होनेपर सिद्धि या असिद्धि—दोनों ही अवस्थाओंमें स्वर्णसिद्धि-लाभार्थीकी तरह उस विषयकी अनुवृत्ति चेष्टा ही होती है। सिद्धि कहनेसे यहाँ अन्तःकरण स्थित कामादि दोषनाशक श्रीहरिविषयक परमानन्द-स्फूर्त्ति जानना होगा। उक्त स्वार्थ-साधनकी प्रत्येक क्षण-क्षणमें चेष्टा करनेसे दंभ प्रतिष्ठा आदियुक्त चेष्टाका लेशमात्र भी उदय नहीं होता। अतएव जानकर महाजनावज्ञा रूपी अपराध भी नहीं होता। श्रीमहादेवजी के प्रति चित्रकेतु महाराजका अपराध हुआ था। उस विषयमें महादेवजीके द्वारा कौशलसे आत्मगोपन करनेके कारण उनके भागवत चरित्रके विषयमें चित्रकेतुका अज्ञान ही अपराध कारण रूपसे जानना होगा।

यद्यपि श्रद्धायुक्त व्यक्तिका प्रारब्ध कर्म आदिके कारण विषय सम्बन्धका अभ्यास होता है, तथापि विषय-सम्बन्ध-कालमें उसे बाधा प्रदान करते हुए दैन्यरूपी भक्ति ही आत्मप्रकाश करती है। "उक्त कामसमूहका उपभोग करते हैं, किन्तु फिर भी परिणाममें दुःखदायी होनेके कारण निन्दा भी करते हैं" तथा "मेरे भक्त यद्यपि बाधित होते हैं," आदि स्थलोंमें यही कहा गया है। "अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्"—"यद्यपि सुदुराचार व्यक्ति मेरा अनन्य रूपसे भजन करते हैं", आदि वचनोंमें कहे गये व्यक्तिका अनन्यभागी-लक्षण द्वारा जो श्रद्धा देखी जाती है, वह "जो व्यक्ति शास्त्रविधिका परित्याग कर श्रद्धायुक्त होकर भजन करते हैं" आदि वाक्योंमें कहे गये श्रद्धाकी तरह लोकाचार-परम्परा प्राप्त है, ऐसा जानना होगा। वस्तुतः वह शास्त्रार्थके तात्पर्य ज्ञानसे उत्पन्न नहीं है। क्योंकि शास्त्रीय श्रद्धाके उदय होनेपर सुदुराचारता संभवपर नहीं है। क्योंकि—

परपत्नी परद्रव्य-परहिंसासु यो मतिम्।
न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः॥

(विष्णु-पुराण)

"परपत्नी, परद्रव्य या परहिंसामें जिनकी मति नहीं होती, केशव भगवान् उनके प्रति संतुष्ट होते हैं" इस वाक्यके साथ विरोध होता है। 'अपि चेत् सुदुराचारो' श्लोकमें 'अपि' शब्द द्वारा दुराचारताकी हेयता ही प्रकाशित होती है। विशेषकर ऐसा होनेपर "क्षिप्तं भवति धर्मात्मा शश्वत्-शान्तिं निगच्छति"

अर्थात् ऐसे व्यक्ति शीघ्र ही धर्मात्मा होते हैं एवं नित्य शान्ति प्राप्त करते हैं--यह परवर्ती वचन भी युक्तिसंगत नहीं होता। किन्तु नामबल पर पापबुद्धिरूप अपराध होता है। अतएव वह श्रद्धा शास्त्रीय भक्तिके विषयमें अधिकारी व्यक्तिके विशेषण रूपसे ग्रहणीय नहीं है, किन्तु ऐसी श्रद्धाद्वारा भी भक्ति सत्त्वगुणका कारण होती है।"किन्तु जो व्यक्ति शास्त्रविधिका उल्लंघन कर स्वेच्छासे भक्तिमें प्रवृत्त होते हैं, वे सिद्धि, सुख या परम गति प्राप्त नहीं कर सकते" आदि वाक्योंमें कहे गये दूसरे देवताकी पूजाकी तरह निरर्थक नहीं जाती--ऐसी प्रशंसाके लिए ही श्रद्धा शब्दका ग्रहण किया गया है, यह जानना होगा।

ब्रह्मवैवर्त-पुराणमें इस श्रद्धाकी पूर्णत्वावस्थाका वर्णन किया गया है--

किं सत्यमनृतं चेह विचारः सम्प्रवर्त्तते ।
विचारेऽपि कृते राजन्न सत्यपरिवर्जनम् ॥
सिद्धः भवति पूर्णा स्यात् तदा श्रद्धा तदाकला॥

कौनसी वस्तु सत्य एवं कौनसी वस्तु मिथ्या है, ऐसे विचारके पश्चात् जब असत्यका परित्याग हो जाता है, तब महाफल-दायिनी श्रद्धा पूर्णता प्राप्त करती है। अतएव श्रद्धा के उत्पत्ति-लक्षणोंका उस प्रकारसे स्थिति होनेके कारण इस समय "जो व्यक्ति हठात् मेरी कथामें श्रद्धायुक्त होता है" आदि एवं अथवा "मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते"--मेरी कथाके श्रवण आदिमें जब तक श्रद्धा नहीं होती" आदिका विधान किया गया है। इस प्रकार अधिकारी एवं अनधिकारीका विषय वर्णन करनेके लिए ही श्रीभगवान् एवं नारदजीके ऐसे वाक्यकी व्यवस्था की गई है।

भगवान् श्रीकृष्णका वाक्य है--

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
(गीता ३।२६)

विद्वान् व्यक्ति कर्मासक्त अज्ञ व्यक्तियोंमें बुद्धिभेद नहीं उत्पन्न करेंगे। इस विषयमें श्रीनारदजी कहते हैं--

जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः
स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः ।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो
न मन्यते तस्यं निवारणं जनः ॥
(भा० १।५।१५)

हे व्यासदेव! आपने श्रीहरिकी कीर्ति का माहात्म्य वर्णन छोड़कर श्रीमहाभारत आदि शास्त्रोंमें जिस धर्मका वर्णन किया है, वह आपके लिए अकिंचित्कर एवं विरुद्ध ही हुआ है। स्वभावसे काम्य-कर्मादिमें ही मनुष्योंका अनुराग देखा जाता है। इस अवस्थामें आपकेद्वारा ऐसे निन्दनीय काम्य-कर्मको धर्म रूपसे निर्णय करनेके कारण अत्यन्त अन्याय हुआ है। क्योंकि वे लोग आपके वाक्यमें विश्वास प्राप्त कर काम्य-कर्म को ही मुख्य धर्म रूपसे स्थिर करेंगे। इसके पश्चात् उस विषयमें निषेध-वचन ग्रहणीय न होगा।

स्वयं निःश्रेयसं विद्वान् न वक्त्यज्ञाय कर्म हि ।

न राति रोगिनोऽपथ्यं वांछतोऽपि भिषक्तमः॥
(भा० ६।९।४७)

जो व्यक्ति स्वयं निःश्रेयस (परम मङ्गल) को जानते हैं, वे कदापि अज्ञ व्यक्तियों को प्रवृत्तिमार्गका उपदेश नहीं करेंगे। रोगी इच्छा करनेपर भी सद्वैद्य उसे कदापि कुपथ्य प्रदान नहीं करते।

यहाँ अधिकार विषयमें श्रद्धा ही कारण है एवं वही श्रद्धा अज्ञ व्यक्तिके लिए संभव नहीं है। तथापि किसी प्रकार प्राचीन संस्कार-विचारद्वारा उसका अधिकार निर्णय कर उपदेश प्रदान करनेमें कोई दोष नहीं है। नहीं तो श्रद्धाहीनको उपदेश करनेपर उपदेशक का ही नामापराध हो पड़ता है।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्ति
भूदेव श्रौती महाराज

पौराणिक उपाख्यान

हरि-भक्तिकी महिमा एवं कणिक्-चरित्र

विषयार्त्त, सांसारिक ममताद्वारा आक्रान्त-चित्त मनुष्योंके लिए एकमात्र हरिनाम ही सर्वपापनाशक है। भगवद्-परायण, शान्त, लोकानुग्रहकारी, सभी भूतोंके प्रति दयायुक्त व्यक्ति भगवद्स्वरूप कहे जाते हैं। कोटि जन्मोंमें संचित सुकृति द्वारा भगवद्-भक्ति प्राप्त होती है। जिनकी अटल विष्णुभक्ति है, उनमें पापमति कैसे हो सकती है? हरिपूजापरायण व्यक्तियोंके कोटि जन्मोंमें सञ्चित पाप क्षणमें ही नष्ट हो जाते हैं। हरिभक्तिविहीन व्यक्ति चण्डाल तुल्य हैं, एवं हरिभक्तिपरायण होनेपर चण्डाल भी सभीके पूज्य हैं। विषयान्ध मनुष्योंके अशेष दुःख दूर करनेमें एवं भक्ति प्रदान करनेमें हरिसेवा ही विख्यात है। लोभ, मोह, अज्ञान एवं संगवशतः जो व्यक्ति विष्णुकी उपासना करें, वह भी अक्षय लोकोंको प्राप्त करता है। कणमात्र भी हरिचरणामृत-पान धारण करने पर सर्वतीर्थोंमें स्नानका फल मिलता है एवं वह व्यक्ति भगवान् विष्णुका परम प्रियपात्र होता है। पवित्र हरिचरणामृत अकाल-मृत्यु-शान्तिकारी है, सर्वव्याधि-नाशकारी है एवं सभी दुःखोंको दूर करता है। ज्योतिके परम ज्योति नारायणके शरणागत व्यक्तियों के लिए मुक्ति नित्य सहचरी है।

सत्ययुगमें कणिक् नामक एक व्याध था।

वह परस्त्रीहरण, परधन-अपहरण परनिन्दा एवं प्राणी-पीड़नमें सर्वदा लगा रहता था। देव-सम्पत्ति हरण करना उसका नित्यकर्म था। उसने इतने भारी पाप किये थे, जिनकी गिनती कोटि कोटि वर्षोंमें की न जा सके। एकबार महापापिष्ट कालतुल्य वह व्याध स्वच्छ जलयुक्त सरोवरोंसे पूर्ण अनेकानेक विपणि (दूकान) युक्त एवं सुन्दर अलंकारोंसे भूषित नारीयुक्त सौवीर नगरमें पहुँचा। उस नगरके उपवनमें सोनेके कलससे ढके हुए रमणीय विष्णु-मन्दिरको देखकर व्याधको बड़ा आनन्द हुआ। अर्थलोलुप वह व्याध 'बहुत-सा सोना चोरी करूँगा' ऐसा निश्चय कर उस मन्दिरमें घुस गया। वहाँ तत्त्वज्ञानी, शान्त, कामनाशून्य, परम दयालु, ध्यानमग्न, विष्णुसेवापरायण, तपोधन ब्राह्मणश्रेष्ठ उत्तङ्क मुनिको अकेले देखकर उन्हें चौर्य-कार्य में बाधा मानकर भगवान्‌की द्रव्यराशि लेनेके लिए रात्रि समयमें कटार धारण कर उनके वक्षःस्थलमें पैर रखकर सिरके केश पकड़कर उनको मारनेके लिए तैयार हुआ।

वे मुनि कहने लगे—"हे साधो! इस निरपराधका क्यों वध करोगे? हे व्याध मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है? जो व्यक्ति अपराध करेगा, उसीका शासन किया जाता है। हे सौम्य! सज्जन व्यक्ति भी पापीको अकारण नहीं मारते। विरोधी मूर्खमें गुण देखकर शान्तचित्त सज्जन व्यक्ति भी प्रतिकूल आचरण नहीं करते। जो व्यक्ति नाना प्रकार से पीड़ा प्राप्त होनेपर भी क्षमा करे, उसे उत्तम मनुष्य एवं भगवान्‌का प्रियपात्र कहा जाता है। परहितकारी सज्जन व्यक्ति विनाशकालमें भी बैर नहीं करते। चन्दन वृक्ष काटते समयमें कुल्हाड़ीके नोकको सुवासित कर देता है। क्या आश्चर्य है! जगत्‌के लोग दूसरोंको नाना प्रकारसे पीड़ा देते हैं। सर्वसंग मुक्त होनेपर भी दुरात्माके पास पीड़ा पाना पड़ता है। जगतमें दुर्जन व्यक्ति बेकार दूसरोंको कष्ट देता है। वह साधुओंको कष्ट देता है, किन्तु अपने समान व्यक्तिको कष्ट नहीं दे सकता। माया क्या बलवती है! सारे जगत्‌को मोहित कर रखती है एवं मनुष्योंको स्त्री-पुत्र-परिवार आदिके कारण सभी प्रकारके दुःखोंमें डाल रखती है। देखो, जो व्यक्ति परद्रव्यका अपहरण कर स्त्री-पुत्रादिका पोषण करे, परिणाममें सब कुछ त्यागकर उसे अकेले जाना पड़ता है। मेरी माता, मेरे पिता, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र एवं यह सब कुछ मेरा है—यह ममता ही प्राणियों को सर्वदा क्लेश दिया करती है। पाप एवं पुण्यका फल ही साथ जाता है, और कुछ नहीं रहता। जब तक कमानेका सामर्थ्य हो, तभी तक बन्धु लोग रहते हैं। धर्म-अधर्मके द्वारा द्रव्य इकट्ठाकर जिनका पोषण किया जाता है, वे ही व्यक्ति उसे मरणके पश्चात् आगमें देकर स्वयं घृतान्न भोजन करते हैं। परलोकमें जाते समयमें भी धर्म-अधर्म साथमें जाते हैं। धन, पुत्र एवं बांधव आदि कुछ भी साथ नहीं जाते। पापाचारी व्यक्तिकी कामना घरमें ही लगी रहती है, उसके पश्चात् धनादि एकत्र करनेमें वृथा क्लेश मिलता है। जो होना है, सो होगा ही। इसे मूर्ख व्यक्ति नहीं जानते।

जो होना नहीं है, सो नहीं होगा। जिनमें यह ज्ञान अटल है, उनके लिए चिन्ता या कष्ट नहीं है। यह जगत्, जो स्थावर-जंगमात्मक है, दैवके अधीन है। अतएव दैवको छोड़कर जन्म-मृत्युको कोई नहीं जान पाता। ममतायुक्त मनुष्योंका क्या कष्ट है! वे महापाप कर भी कुटुम्बियोंका पोषण करते हैं। उनके द्वारा सञ्चित अर्थका बान्धव लोग उनके समान भोग करते हैं। किन्तु अन्तमें उन्हें अकेले ही पापका फल भोगना पड़ता है।"

उन मुनिद्वारा ऐसे कहे जानेपर कणिक् व्याध भयसे व्याकुल होकर उनका परित्याग कर हाथ जोड़कर बारम्बार क्षमा प्रार्थना करने लगा तथा उनके संगके प्रभावसे एवं भगवान्‌की सम्मुखताके कारण निष्पाप होकर अनुताप करते करते कहने लगा—"हे प्रभो! आपके दर्शनसे मेरे सारे पाप नष्ट हो गये हैं। मैं अत्यन्त पापमति हूँ एवं मैंने नित्य ही बहुत पाप किये हैं। पूर्व-जन्मोंके पापसे व्याध हुआ हूँ। इस जन्ममें मैंने ढेरके ढेर पाप किये हैं। पता नहीं, मेरी क्या गति होगी? हाय! शीघ्र ही मेरी मृत्यु होगी। मैंने बहुत पाप किये हैं, किन्तु थोड़ा भी उनका प्रायश्चित्त नहीं किया। जन्म ही क्या होगा? हाय! विधिने मुझे पापोंसे पूर्ण एवं पृथिवीका भार-स्वरूप बनाकर क्यों सृष्टि की है? मैं कितने जन्मों तक निष्ठुर आचरणका पापजात फल भोग करूँगा?" ऐसा अनुताप करते करते वह व्याध अपनी आत्मनिन्दा करता हुआ, मनके शोकसे तुरन्त मृत्युको प्राप्त हुआ। महामति दयालु उतङ्कजीने व्याधको गिरा देखकर विष्णु-पादोदक उसके मुखमें दिया। वह व्याध भी उस भगवत्-चरण-जलका स्पर्श पाकर पापमुक्त होकर दिव्यविमानमें आरूढ़ हुआ। वह कहने लगा—"हे मुनिश्रेष्ठ! उत्तम व्रतशील उतङ्कजी! आप मेरे गुरु हैं। आपकी कृपासे मैं महापातकसे मुक्त होकर परम गति पाऊँगा। आपके उपदेशसे मेरे मन में जो अनुताप हुआ था, उसीके द्वारा मेरे सारे पाप नष्ट हो गये। आपने जो मेरे शरीरमें श्रीहरि-चरणामृत दिया है, उसीके फलसे विष्णु भगवान्‌का परम पद प्राप्त करूँगा। आपके समान गुरु पाकर मैं कृतार्थ हो गया। आपको प्रणाम करता हूँ। मेरे अपराधोंको क्षमा करें।" यह कहकर वह मुनिश्रेष्ठके ऊपर दिव्य पुष्प बरसाने लगा एवं तीन बार प्रदक्षिणा कर उनको नमस्कार करने लगा। उसके पश्चात् विमानपर चढ़कर वह सर्वकाम से युक्त अप्सराओंसे पूर्ण श्रीविष्णु लोकमें गमन कर गया। यह देखकर विस्मित होकर वे महात्मा उतङ्कजी भगवान्‌को प्रणाम कर हाथ जोड़ते हुए उनकी स्तुति करने लगे। उस स्तुतिसे प्रसन्न होकर महाविष्णुने उन्हें वरदान दिया। उसी वरके द्वारा वे उत्तंक मुनि भी परमपदको प्राप्त हुए।

(बृहन्नारदीय पुराणसे)

—※—

श्रीजन्माष्टमीपर दार्शनिक-आलोचना

(गतांक, पृष्ठ ९६ से आगे)

उसी प्रकार अज्ञानको यदि स्वच्छ जलस्थानीय कहकर कल्पना की जाय, तो बिम्बस्वरूप ब्रह्मके प्रतिबिम्ब जगत्को एवं जीवको दोनों आँखोंके मिलन-स्थानके रूपमें कल्पना की जा सकती है। तब अज्ञान, ब्रह्म एवं जीव—ये तीनों ही तत्त्व विश्वरूपा एक तत्त्वमें परिणत होते हैं। इन तीनों तत्त्वोंमें से किसी एक को छोड़ देने पर प्रतिबिम्बकी संभावना नहीं है। केवलाद्वैतवादी लोग अज्ञान एवं ब्रह्म दोनोंको नित्यता स्वीकार कर ब्रह्मस्वरूप धर्ममें प्रतिष्ठित आधेयस्वरूप अज्ञान-प्रसूत जीव एवं विश्वको स्वीकार करेंगे क्या ? इसको छोड़कर बिम्ब नित्य चेतन ब्रह्म है, प्रतिबिम्ब मिथ्या है, अचेतन जीव एवं विश्व प्रतिबिम्ब स्थानीय होनेके कारण दोनों ही अज्ञान अर्थात् अचेतन, जड़ एवं मिथ्या हैं। विश्वकी जड़ता प्रत्यक्षसिद्ध है, किन्तु जीवकी जड़ता प्रत्यक्षसिद्ध नहीं, बल्कि चेतनता ही प्रत्यक्षसिद्ध है। जीवरूपी अचेतन का चक्षुके संयोगद्वारा दृश्यत्वका असामर्थ्य होनेके कारण प्रतिबिम्बकी बात गलत साबित हो रही है। मिथ्याभूत जीव अज्ञानसे उत्पन्न होनेके कारण अचेतन या जड़ हो पड़ता है।

ब्रह्म अज्ञानमें प्रतिबिम्बित होकर जीवत्व प्राप्त हुआ है। यह प्रतिबिम्ब जीव बद्धावस्था में सुख-दुःखका भोक्ता होता है। ब्रह्म किन्तु सुख-दुःखसे अतीत है। जीव यदि स्वरूपसे अर्थात् मुक्तावस्थामें ब्रह्म ही हो जाय, तो देखा जाता है कि प्रतिबिम्बित अंश अज्ञान रूप अचेतन जड़ ही सुख-दुःखका भोग करता है। जड़वस्तु सुख-दुःखका भोक्ता है, यह बात प्रत्यक्ष ज्ञानसे भी असंभव होने के कारण युक्तिविरुद्ध है। अतएव ऐसा सिद्धान्त हास्यास्पद है। जीवोंका सुख-दुःख भोग देखा जा रहा है। कोई राजा, कोई प्रजा, कोई पण्डित, कोई मूर्ख, कोई सबल, कोइ दुर्बल है; चेतनता युक्त जीवकी विभिन्नता, वशिष्ट्य द्रष्टत्व, श्रोतृत्व, आदि बातोंको प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। सुख-दुःखकी अनुभूति, ऊँचा-नीचा ज्ञान, भेद-वैशिष्ट्यकी धारणा, वस्तु एवं शब्दका दर्शन, श्रवण आदि चेतन जीवमें ही देखे जाते हैं। अचेतन पदार्थ मृत्तिका (मिट्टी) जल, वायु, अग्नि, आकाश आदि जड़ वस्तुओंमें ऊपर कहे गये चेतनके द्वारा अनुभव करने योग्य कार्य देखे नहीं जाते। अतएव प्रतिबिम्ब विश्वका अचेतनत्व होने पर भी उसीके श्रेणीमें जीवको रखा नहीं जा सकता। अतएव जीव अचेतन नहीं है।

केवलाद्वैतवादी लोग परमार्थ विषयमें पराङ्मुख होकर कहते हैं कि विचारमात्र ही

केवल व्यवहारिक हैं। शास्त्र स्वयं व्यवहारिक है, उसके वचन भी व्यवहारिक हैं। व्यवहारिकताको त्याग कर देने पर इस प्रकार कहनेवाले मतवादियोंके लिए बोलनेको कुछ और नहीं रहता या जो है, ऐसी कल्पना की जाय, उससे केवल व्यवहारिक परमार्थत्वका ही प्रतिपादन होता है। ब्रह्ममें व्यवहारिक युक्तिद्वारा जो पारमार्थिकता दिखलाई गई है, उससे सत्य ब्रह्म भी मिथ्या हो जाता है। अतएव साधन की सिद्धि नहीं हो सकती।

ब्रह्मके सम्बन्धमें कुछ बोलनेकी चेष्टा करने पर व्यवहारिक-भावसे ही कहना होता है। तब वे अप्रमेय, अवितर्क्य हैं एवं जीवको-भी व्यवहारिक रूपसे प्रमेय, परिच्छिन्न एवं वाक्य एवं मनके गोचरीभूत कहना पड़ता है। अतएव व्यवहारिक हिसाबसे ही इन मतवादियोंका विचार स्वीकार किए जाने पर भी जीव एवं ब्रह्मका ऐक्य कदापि प्रतिपादन नहीं होता। व्यवहारिक दृष्टिसे जिसे पृथक् कहकर प्रतिपादन किया जाय, वह ऐसे पारमार्थिक विचारसे भी पृथक् न होनेका युक्तियुक्ति कारण व्यवहारिक रूपसे भी कुछ देखा नहीं जाता। अतएव जीव-ब्रह्मका ऐक्य (सम्पूर्णलय) किसी भी प्रकारसे नहीं होता। 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्यके द्वारा ऐक्यकी स्थापना नहीं होती। क्योंकि 'नीलोत्पल-नयन' या 'चन्द्रवदन' कहने पर नयनकी नीलोत्पलता या वदनका चन्द्रत्व न होकर सादृश्य या एकरूपताको ही समझा गया है। उपमानको अंगीकार कर केवल उपमेयत्व मात्र स्वीकार करनेके कारण युक्तिकी तीक्ष्णता नहीं होती। 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्रमें ब्रह्म-सादृश्यकी ही उपमा दी गई है। उसमें 'अहं' पदका लोपकर केवल ब्रह्मको स्थापन करनेका प्रयास युक्ति-विरुद्ध है।

व्यवहारिक सत्य त्रिकालसत्तारहित है। ऐसा होने पर पारमार्थिक शब्दसे त्रिकालसत्ता-युक्तत्व ही प्रमाणित होता है। यदि कहा जाय कि ब्रह्ममें व्यवहारिक धर्म है या त्रिकालसत्ता शून्यता है, तो धर्मरहित ब्रह्ममें धर्मारोप होता है एवं उसके द्वारा वाक्य दोष भी उपस्थित होता है। भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान—इन तीनों कालों में अवर्त्तमान वस्तु अभी 'है' ऐसी बात कहे जाने पर कालके भीतरकी बात ही घूम-फिरकर प्रतिपादित होती है। कोई भी वस्तु 'है' या 'नहीं है' ऐसे कहनेपर कालके भीतर स्थिति ही समझी जायगी। उसके द्वारा पारमार्थिक शब्दका कालान्तर्गतत्व प्रकाश पाता है।

व्यवहारिक विचारमें जो मिथ्यापनकी कल्पना देखी जाती है, उसके मूलमें अज्ञान या अविद्या ही वर्त्तमान है। 'अज्ञान' कहनेसे केवलाद्वैतवादी लोग 'सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय" तत्वका ही निरूपण करते हैं। आचार्य श्रीपाद शंकरजीका कहना है—"अवस्तु अनिर्वाच्या अविद्या अस्ति"। अर्थात् अज्ञानरूप अविद्या अवस्तु है अर्थात् मिथ्या है। वह सत्से एवं असत्से विलक्षण होनेके कारण अनिर्वचनीय काल्पनिक तत्वमात्र है।

ब्रह्म एक, निर्धर्मक, निर्विशेष एवं अद्वितीय है। श्रीशंकरजी का कहना है कि अविद्याके कारण ही आत्माका बन्धन होता है। आत्मा एवं ब्रह्म एक ही वस्तु हैं। "स आत्मा कीदृशः अर्थात् वह आत्मा कैसी है? इस प्रश्नके उत्तर में उनका कहना है "चित्सदानन्दाद्वितीयम् अखण्डं अचलं अजं अक्रियकूटस्थानन्तं स्वयं-ज्योतिःस्वरूपं स्वप्रकाशं ब्रह्म स आत्मा" अर्थात् वह आत्मा चित्स्वरूप,सदानन्दस्वरूप, अद्वितीय, अखण्ड,अचल, अज(जंनरहित),कूटस्थ, (विकार-रहित), अक्रिय, अनन्त, स्वयं-ज्योतिः एवं स्वप्रकाश ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप आत्मा यदि "साविद्या सत्कृते बन्धः"—ऐसी अवस्था प्राप्त हो, तो आत्माका उद्धार कैसे होगा?

विषय एवं आश्रयके विचारसे श्रीशङ्करजी ने और एक स्थानमें कहा है "स्वाश्रया स्वविषया × × × अविद्या" अर्थात् आत्मा ही विषय है एवं अविद्या उसका आश्रय है। अविद्याके इस प्रकारके आश्रयत्वके कारण चित्सदानन्द आत्मा या ब्रह्म उसके द्वारा आवृत नहीं है। अविद्याके ऐसे धर्मत्वके कारण वह आत्माके द्वारा अनुभवनीय ठहरती है। यदि 'स्वाश्रया' के कारण 'सानुभावगम्या' है तो व्यवहारिक विचारसे अनुभवसिद्ध वस्तुका अभाव-राहित्य या वर्त्तमानत्ता ही सिद्ध होती है। अतएव अविद्या मिथ्या होनेपर उसके धर्मसे उत्पन्न क्रियाओंकी त्रिकालसत्ताशून्यता की स्थापना न होकर मिथ्यावस्तु ही सत्य प्रमाणित होती है।

इसको छोड़कर केवलाद्वैतवादके गुरुने और एक उदाहरण देकर कहा है कि अविद्या ब्रह्ममें ही अवस्थान कर ब्रह्मका आवरण कर रही है। वह यह है—"यथा गर्भान्धकारेण आगारगर्भम् आच्छाद्यते तथा चिद्रूपं कूटस्थं आत्मानं स्वस्वरूपं आच्छाद्यमिव विक्षिपते" अर्थात् गृहके भीतर वर्त्तमान अन्धकार जिस प्रकार गृहका ही आच्छादन करती है, उसी प्रकार ब्रह्माश्रित अविद्या ब्रह्मका आच्छादन करती है। इस प्रकारके उदाहरण द्वारा ब्रह्म की निर्विशेषता क्या प्रमाणित होती है? ब्रह्मके अन्तर्गत विद्यमान अविद्या या ज्ञानान्तर्गत विद्यमान अज्ञान यदि ब्रह्म या ज्ञान को आच्छादन करनेकी योग्यता रखे एवं अज्ञान तथा अविद्याका ब्रह्ममें आश्रयत्व स्वीकार किया जाय, तो वह ब्रह्मकी तरह त्रिकालसत्य स्वरूप एवं पारमार्थिक हो पड़ती है।

मायावादीकी पूर्वोक्त अविद्याकी परिभाषा की विस्तारसे आलोचना करनेपर हम कुछ दोष देख सकते हैं। अविद्या या प्रपंचको (१) सद्से विलक्षण, (२) असद्से विलक्षण एवं (३) अनिर्वचनीय कहा गया है। इन प्रत्येक बातोंका पृथक् पृथक् विचार किया जाय—(१) प्रपंच या अविद्याका सद्से बिलक्षणत्व या सत्सम्पर्कता सिद्धान्त करने पर भी उसे मिथ्या कहा नहीं जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्षके द्वारा ही बहुतसे वस्तुओंकी सत्ता उपलब्धि होती है। उनमें वृक्ष, पौधे, प्रस्तरादि हैं। इसलिए वे सद्वस्तुएँ हैं। सद्वस्तुका प्रकाश्य वैशिष्ट्य या भेद देखा जाता है।

(क्रमशः)